



आधुनिक काल में वैदिक शिक्षा की प्रासंगिकता पर एक विवेचना

रूबी , शोधार्थिनी, इतिहास विभाग , चौधरी चरण सिंह विश्विद्यालय, मेरठ |

डॉ० स्मिता शर्मा , रीडर एवं शोध निर्देशिका इतिहास विभाग , चौधरी चरण सिंह विश्विद्यालय, मेरठ |

सार

शिक्षा हमारी बुद्धि का परिष्कार करने वाली व उसको शोभा प्रदान करने वाली ज्ञान से युक्त एक ऐसी ओषधि है जिससे मनुष्य का जीवन अज्ञान व अविद्या के रोग से मुक्त रहता है व जीवन के उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति में सफल होता है। वेद ज्ञान रहित शिक्षा मनुष्य के जीवन का सर्वांगीण विकास करने में असफल है यह हमने विगत अनुभवों से देखा है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगेश्वर कृष्ण, आचार्य चाणक्य व महर्षि दयानन्द पर दृष्टि डालने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि इनका निर्माण वैदिक शिक्षा द्वारा ही हुआ था। वैदिक शिक्षा की महत्ता यह है कि इससे मनुष्य को अपने जन्म के कारणों व उद्देश्य का पता चलता है जो कि अन्य किसी भी शिक्षा पद्धति से सम्भव नहीं है। वैदिक शिक्षा पद्धति से शिक्षित व दीक्षित बालक व विद्यार्थी मानव बनता है, दानव नहीं। दानव शब्द का अर्थ गलत व बुरे काम करने वाला मनुष्य कर सकते हैं। यदि वैदिक शिक्षा में शिक्षित व्यक्ति भी कोई गलत काम करता है तो यह उसके अपने अत्यन्त बुरे संस्कारों, सामाजिक वातावरण व पढ़ाने वाले अध्यापकों की अध्यापन क्षमता में कमी के कारण होता है। हम यहां एक आर्य संन्यासी के जीवन का एक उदाहरण देते हैं।

मुख्य शब्द : वैदिक, शिक्षा, सामाजिक, वातावरण, प्राचीनतम इत्यादि ।

प्रस्तावना

वेद भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम ग्रन्थ माने जाते हैं। वेद ज्ञान के अथाह भण्डार हैं। वेदों का ज्ञान एवं आचरण जीवन को सुसंबद्ध एवं नैतिक रूप से जीने की महत्वपूर्ण कुंजी है। इस प्रकार वेद हमें एक सफल तथा वास्तविक जीवन जीने हेतु मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली पूर्णतया वैदिक ज्ञान आधारित शिक्षा प्रणाली थी। यह न केवल हमें कोरा ज्ञान प्रदान कराती थी। अपितु जीवन को अत्यधिक व्यवहारिक एवं सकारात्मक मनोभावों से युक्त कर वास्तविक लक्ष्य का मार्ग दर्शन कराती थी। वस्तुतः मानव जीवन के दो पक्ष हैं बाह्य पक्ष एवं आन्तरिक पक्ष | बाह्य पक्ष भौतिक जीवन से सम्बन्धित



होता है। भौतिक सुख ही इस पक्ष का ध्येय होता है। आन्तरिक पक्ष का भौतिक साधनों या सुखों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुतः जीवन का आन्तरिक पक्ष आध्यात्मिक पक्ष कहा जाता है जिसका लक्ष्य आत्मोत्सर्ग करना होता है। आत्मोत्सर्ग की अवस्था नैतिक मूल्यों एवं नीतिनिष्ठ आचरणों द्वारा आत्म अवस्थित होकर व्यष्टि चेतना का समष्टि चेतना के प्रति आह्वान है। इस विचार की ध्वनि वैदिक साहित्य में 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के रूप में दिखाई पड़ती है।

वेद काल में यद्यपि बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही प्रारम्भ हो जाती थी। परन्तु इस शिक्षा का उद्देश्य गुरुकुलों में उपनयन के बाद प्रदान की जाने वाली औपचारिक शिक्षा के लिए बालकों को तैयार करना होता था। उच्चारण, शब्द ज्ञान, भाषा तथा गणित की प्रारम्भिक बातें घर पर बालकों को सिखाई जाती थी। इसे प्रकार से घर ही बालक की प्रथम परन्तु अनीपधारिक शिक्षा संस्था होती थी। औपचारिक संस्थाओं के रूप में, वैदिक काल में छोटे-छोटे पारिवारिक विद्यालय होते थे जिनका संचालन शिक्षक स्वयं व्यक्तिगत रूप से करता था। इन पारिवारिक विद्यालयों को आश्रम अथवा गुरुकुल कहा जाता था। उपनयन संस्कार के बाद बालक की शिक्षा आश्रम अथवा गुरुकुल में होती थी। तब बालकों को गुरुकुल में ही रहना होता था तथा गुरुकुल के नियमों का पालन करना होता था। गुरुकुल में शिवा के लिए रहने वाले बालकों को ब्रह्मचारी अथवा अन्तःवासी अथवा कुलवासी कहा जाता था। शिक्षक ही अपने आश्रम के सभी ब्रह्मचारियों का अभिभावक होता था तथा उनके खान-पान, पोशाक व अन्य समस्त आवश्यकताओं की व्यवस्था करता था। गुरुकुल प्रायः शहर के कोलाहल से दूर उपवन या जंगल के एकान्त परन्तु रमणीय स्थानों पर स्थित होते थे। गुरुकुल में शैक्षिक तथा आध्यात्मिक वातावरण पर अत्यन्त बल दिया जाता था। गुरुकुल का जीवन अत्यन्त सरल होता था।

वैदिक शिक्षा की प्रमुख विशेषताएँ निम्न रूप में अंकित की जा सकती हैं-

वैदिक शिक्षा प्रणाली की प्रमुख विशेषता इस रूप में है कि यह मानव व्यक्तित्व के दोनों पक्षों को सन्तुष्ट करती है। वैदिक शिक्षा इस प्रकार से स्वयं में एक सम्पूर्ण व्यवस्था थी। वह छात्र को जीवन की प्रत्येक स्थिति के लिए तैयार करती थी तथा उसके व्यक्तित्व का सर्वतोन्मुखी विकास करती थी। बालक का शरीर, मन, बुद्धि आध्यात्मिक सभी शिक्षा द्वारा परिष्कृत किए जाते थे। गुरु के घर या आश्रम में रहकर बालक वहाँ के आवश्यक कार्यों का सम्पादन कर प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त करता था तथा गुरु के निकटतम सम्पर्क तथा अन्तेवासित्व के माध्यम से गुरु के आदर्श चरित्र का अनुकरण कर चरित्र निर्माण करता था।



वैदिक शिक्षा का प्रशेजन :

व्यक्तित्व विकास- सत्य, शिवं, सुन्दरम की अनुमूति मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है, जहाँ तक पहुँचने के लिए मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने अपौरुषेय शब्दावली द्वारा मानव जाति के लिए श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान का उपदेश दिया है। ईप्सित फल की प्राप्ति के लिए विभिन्न अनुष्ठानों के माध्यम से मानव आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक कार्यक्षेत्र में प्रवेश कर शक्ति संचय द्वारा अपनी योग्यता को बढ़ाने का प्रयास करता है। प्रयास की इस श्रृंखला में आध्यात्मिक कार्यक्षेत्र को वरीयता देते हुए शारीरिक अंगों के समविकास की ओर विशेष ध्यान दिलाया है। ऋषियों ने सम विकास के सिद्धान्त के आधार पर शरीर की स्थूल व सूक्ष्म शक्तियों को विकसित करने को प्रथम कर्तव्य बतलाया है।

आचरण की शुद्धता- व्यक्ति के वैयक्तिक विकास पर आचार-विचार व खान-पान का विशेष प्रभाव पड़ता है। इसलिए आचरण की शुद्धता के लिए यम, नियम इत्यादि की विवेचना की गयी है। महर्षियों ने स्थूल शारीरिक शक्ति तथा सूक्ष्म आत्मशक्ति को समविकास के भाव से सत्कार्य में प्रवृत्त करने हेतु चोरी न करना, व्यभिचार न करना, ब्रह्महत्या न करना, गर्भपात न करना, सुरापान न करना, पाप होने पर असत्य बालकर उसे न छिपाना, दुराचार न करना इत्यादि मर्यादाओं के अनुरूप मानव आचरण का निर्देश दिया है।

आध्यात्मिक प्रशिक्षणल- मानव का साध्य तत्व वैयक्तिक, सामाजिक तथा जागतिक शक्ति है। वैयक्तिक शक्ति से अध्यात्ममाव की, सामाजिक शक्ति से अधिभौतिक भाव की तथा जागतिक शक्ति से अधिदैविक भाव की अभिवृद्धि होती है, जिसमें आध्यात्मिकता का पुट सन्निहित रहता है। आध्यात्मिक उन्नति होने से व्यक्ति सत्य तथा वास्तविकता की ओर अग्रसर होता है। आध्यात्मिक उन्नति कर ही व्यक्ति अपनी व्यष्टि चेतना का समधृष्टि चेतना में लय करता है।



शारीरिक सब्युक्तता-शरीर, मन तथा हृदय का समाहार ही मानव है। इसमें हृदय तीसरा परन्तु परमात्म तत्व की अनुभूति से भक्ति स्थल माना गया है। मन तथा शरीर कार्यस्थल कहे गए हैं। इसलिए ऋषियों ने शरीर को हृष्ट-पुष्ट, दृढ तथा शक्तिशाली बनाने का निर्देश देकर संगठनात्मक शक्ति के स्वरूप का बोध कराया है।

उपसंहार

वैदिक साहित्य के सिद्धान्त निःन्देह व्यक्ति के व्यवहारिक जीवन को उत्कृष्ट बनाने में सहायक हैं। आजकल नीतिशास्त्र का क्षेत्र इतना विस्तृत हो चुका है कि व्यवसाय, चिकित्सा, प्रशासन इत्यादि से सम्बन्धित विषयों पर नैतिक चर्चा प्रमुखता से की जा रही है। इसी प्रकार चिकित्सक यदि पूर्णतया सत्य बोलता है तथा बीमार को उसकी बीमारी तथा उसके भयंकर परिणामों के विषय में अवगत कराता है तो यह रोगी के लिए सही नहीं कहा जा सकता परन्तु चिकित्सा की नैतिकता कहती है कि ऐसी दवा का निर्माण न हो जो मानवता के विरुद्ध हो। या किसी ऐसी तकनीकी पद्धति का प्रयोग न किया जाय जो सामाजिकता के विरुद्ध हो। जैसे- माँ के गर्म में लिंग का पता लगाने की विधि के प्रयोग से पुत्र की चाह रखने वाले लोग पुत्री को गर्म में ही मार डालते हैं जो चिकित्सकीय नैतिकता के सर्वथा विरुद्ध है। इस प्रकार वैदिक शब्दों एवं वाक्यों का वर्तमान में हम अपने कार्यों में व्यवहारिक अनुपालन कर अपनी सम्यता की विकासगति को और आगे ले जा सकते हैं। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि समाज के श्रेष्ठी जन जिन्हें इन सिद्धान्तों के विषय में ज्ञान है, वे इन्हें अपने व्यवहार में अपनाकर समाज के लिए मार्गदर्शक के रूप में सामने आएँ जिससे अन्य लोग भी इन सिद्धान्तों के व्यवहारिक अनुप्रयोग के लामों को जानते हुए इसका अनुकरण कर सकें।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- [1] अल्लेकर, डॉ. अनंत सदाशिव. (1979-80). आर्चीन थारतीय शिक्षण पद्धती (संशोधित संस्करण). वाराणसी: नंदकिशोर एंड ब्रदर्स.
- [2] ओमप्रकाश. (1980). आर्चीन थारत का सामाजिक इतिहास (द्वितीय संस्करण). नई दिल्ली: मैकमिलन इंडिया लिमिटेड.



- [3] काणे, डॉ पाण्डुरंग वामन. (1980). धर्म शास्त्र का इतिहास: ग्रथम भायः (तृतीय संस्करण).
- [4] चौबे, सरयू प्रसाद. भारतीय शिक्षा का इतिहास लखनऊ: प्रकाशन केंद्र.
- [5] भार्गव, मनोहर गोपाल. (972). युद्धारक्षस (#थम संस्करण) इलाहाबाद: मधुलिका प्रकाशन.
- [6] मित्तल, ए. के. (2002) भारत का सामाजिक आर्थिक व सांस्कृतिक इतिहास (तृतीय संशोधित संस्करण). आगरा: साहित्य भवन पब्लिकेशन.
- [7] Chakladar, H. (1990). Social life in ancient India. New Delhi: Asian educational services.
- [8] Dwivedi. B.L. (1994). Evolution of educational thought in India. New Delhi: Northern Book Centre.

